R.N.I. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

मूल्य-4 रुपये, वर्ष-19, अङ्क-4 अप्रेल 2019 1

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ०प्र०) का
मासिक मुख-समाचार पत्र

मङ्गलायतन

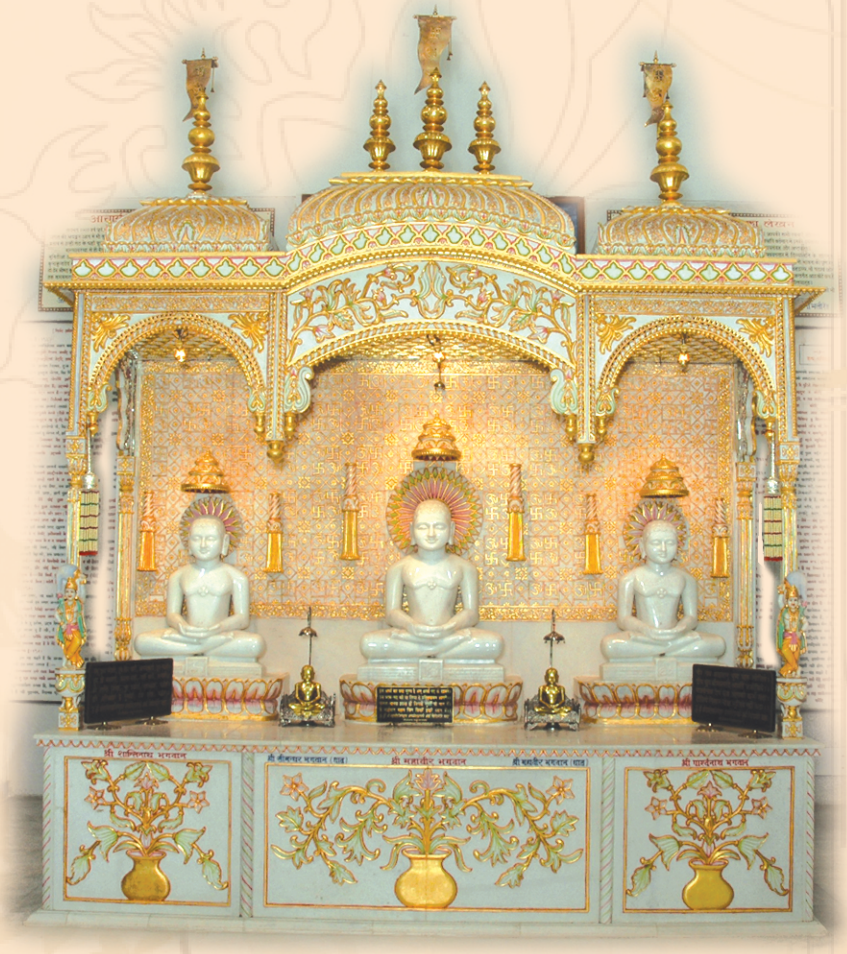

हमें तो पूर्णदशा ही चाहिए

मुनिराज अभी साधकदशा में अपूर्ण शान्ति और समाधि में वर्त रहे हैं परन्तु स्वरूप स्थिरता उग्र करके पूर्ण परमात्मदशा प्रगट करने के लिए वे अति-उत्सुक हैं, लोलुप हैं। अहा! देखो यह मुनिदशा! अनाकुल आनन्द के सागरस्वरूप ज्ञायक प्रभु में निज चैतन्यस्वरूप में ऐसी अति प्रचुर स्थिरता कब होगी कि जिससे श्रेणी माँडकर पूर्ण वीतरागदशा प्रगट हो। मुनिराज को तीन कषाय चौकड़ी के अभाव जितनी स्वरूपस्थिरता तो है परन्तु पूर्ण वीतरागता प्रगट होने योग्य धारावाही शुद्धि की श्रेणी के कारणस्वरूप उग्र स्वरूपस्थिरता कब होगी? जिसके फल में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रगट हों – ऐसी बारहवें गुणस्थान की पूर्ण वीतरागता, निज ज्ञायकस्वरूप में उग्र लीनता होकर कब प्रगट होगी? – ऐसी भावना मुनिराज को वर्तती है।

मुनिराज कहते हैं कि हमारा आत्मा तो अनन्त गुणों से भरपूर, अनन्त अमृतरस से भरपूर अक्षय घट है। उस घड़े में से पतली धाररूप अल्प अमृत पिया जाए – ऐसे स्वसंवेदन से हमें सन्तोष नहीं है; हमें तो प्रत्येक समय पूर्ण अमृत पिया जा सके, ऐसी पूर्णदशा चाहिए। ऐसी पूर्णदशा हमें कब प्रगट होगी – ऐसी भावना के समय भी मुनिराज की दृष्टि तो सदा शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का

मासिक मुखपत्र

वर्ष-19, अङ्क-4 (वी.नि.सं. 2544) अप्रेल 2019

मेरे मन मन्दिर में आन....

मेरे मन मन्दिर में आन, पधारो महावीर भगवान ॥टेक॥

भगवन तुम आनन्द सरोवर, रूप तुम्हारा महा मनोहर।
निशिदिन रहे तुम्हारा ध्यान, पधारो महावीर भगवान ॥1॥

सुन किन्नर गणधर गुण गाते, योगी तेरा ध्यान लगाते।
गाते सब तेरा यश गान, पधारो महावीर भगवान ॥2॥

जो तेरी शरणागत आया, तूने उसको पार लगाया।
तुम हो दयानिधि भगवान, पधारो महावीर भगवान ॥3॥

भक्तजनों के कष्ट निवारे, आप तिरे हमको भी तारे।
कीजे हमको आप समान, पधारो महावीर भगवान ॥4॥

आये हैं हम शरण तिहारी, पूजा हो स्वीकार हमारी।
तुम हो करुणा दया निधान, पधारो महावीर भगवान ॥5॥

रोम-रोम पर तेज तुम्हारा, भू-मण्डल तुमसे उजियारा।
रवि-शशि तुम से ज्योर्तिमान, पधारो महावीर भगवान ॥6॥

साभार : अध्यात्म भजन गंगा

संस्थापक सम्पादक
स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़
मुख्य सलाहकार
श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़
सम्पादक
डॉ. सचिन्द्र शास्त्री, मङ्गलायतन
सह सम्पादक
पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
सम्पादक मण्डल
ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण
बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़
डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर
श्रीमती बीना जैन, देहरादून
सम्पादकीय सलाहकार
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर
पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन
श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर
श्री प्रवीणचन्द्र पी. वोरा, देवलाली
श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई
श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी
श्री विजेन वी. शाह, लन्दन
मार्गदर्शन
डॉ. किरीटभाई गोसलिया, अमेरिका
पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

इस अङ्क के प्रकाशन में
सहयोग-
**श्रीमती जयाबेन
जयन्तीलाल दोशी
परिवार, मुम्बई**

क्या - कहाँ

अनंत भवभ्रमण के मूल	5
संसारतत्त्व	12
साम्यभाव	16
प्रथम प्रवचन	19
विराग	24
भगवान आचार्यदेव श्री रविषेणस्वामी	27
श्री जटासिंहनंदि	28
उपदेश सिद्धांत रत्नमाला	31
समाचार-सार	34

शुल्क :
वार्षिक : 50.00 रुपये
एक प्रति : 04.00 रुपये

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (1)

अनंत भवभ्रमण के मूल का छेदन करनेवाला निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो ?

(श्री समयसार कलश 6-7 तथा गाथा 13 पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

प्रथम धर्म का प्रारम्भ अर्थात् सम्यग्दर्शन कैसे हो ? उसकी यह बात है। आत्मा में शरीरादि परवस्तुएँ तो नहीं हैं और अवस्था में एक समय पर्यन्त का विकार संसार है, वह भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु को एक समय के विकारयुक्त मानना, वह अधर्म है। आत्मा का स्वभाव तो एक समय में सर्व जाने-ऐसे सामर्थ्यवाला है। आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण है, उसमें वर्तमान ज्ञान की अवस्था को अंतरोन्मुख करके नित्य स्थायी स्वभाव के साथ एकरूप करना और पूर्ण चैतन्यद्रव्य को श्रद्धा में स्वीकार करना, उसका नाम धर्म का प्रारम्भ है।

ऐसे परिपूर्ण आत्मा को जो माने, उसे कैसी मान्यता छोड़ना पड़ेगी ? सारी विपरीत मान्यता को छोड़ना पड़ेगा। निमित्त से, पर से या विकार से जो धर्म मानें-मनायें, ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता तो पहली ही बार में छोड़ देना चाहिए और वर्तमान ज्ञान की अपूर्ण दशा के आश्रय से कल्याण होता है-यह मान्यता भी छोड़ देना चाहिए। आत्मा में निमित्त आदि परवस्तु का अभाव है, क्षणिक विकार का निषेध है और अपूर्ण पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करना ही परमार्थ सम्यग्दर्शन है। आठ वर्ष की राजकुमारियों को भी अंतर में ऐसा यथार्थ भान होता है। इसलिए हमने तो गाँव में जन्म लिया है, अल्प बुद्धिवाले हैं और हमारा अधिकांश समय तो व्यापार-धंधे में ही चला गया, अब हमें ऐसा आत्मा कैसे समझ में आ सकता है - ऐसा मानकर नहीं बैठ रहना चाहिए। सभी समझ सकें - ऐसा आत्मा है। प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान सामर्थ्य भरा है, परन्तु अंतर में दृष्टि डालना चाहिए। अंतर में दृष्टि डालने से कृतकृत्य कर दे - ऐसी वस्तु है, मात्र दृष्टि डालने से कृतकृत्य कर दे - ऐसा भगवान आत्मा चैतन्य का भंडार है।

कोई ऐसा माने कि अल्प विकासवाली क्षयोपशमदशा, क्षायिकभाव का कारण होती है तो वह भी पर्यायबुद्धि-व्यवहार की मुख्यतावाला व्यवहाररमूढ़ है। अखण्ड परिपूर्ण आत्मा के आश्रय बिना क्षायिकभाव प्रगट नहीं होता। जिस जिज्ञासु को ऐसा परिपूर्ण आत्मा मानना हो, उसे निमित्त से और विकार से धर्म माननेवाले कुदेव-कुगुरु आदि की विनय छोड़ना चाहिए, उनका आदर छोड़ना चाहिए, उनकी प्रशंसा छोड़नी चाहिए और अपनी पर्याय में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की प्रशंसादि का जो शुभभाव हो, उस शुभराग की प्रशंसा भी छोड़ देना चाहिए, उस राग को धर्म का कारण नहीं मानना चाहिए, और ज्ञान के वर्तमान विकास की प्रशंसा या अहंकार भी छोड़ना चाहिए। यदि वर्तमान अल्प विकास को ही पूर्ण स्वरूप माने तो उसकी प्रशंसा और अहंकार हुए बिना नहीं रहता, किन्तु जो जीव परिपूर्ण अखण्ड चैतन्यतत्त्व को माने, वह अल्प विकास को अपना पूर्ण स्वरूप नहीं मानता, इससे उसे उसका अहंकार या प्रशंसा नहीं होती और इससे वह वर्तमान पर्याय को अभेदस्वभावसन्मुख करके उसकी प्रतीति करता है - यही निश्चय सम्यग्दर्शन है, यही प्रथम अपूर्व धर्म है।

वर्तमान ज्ञान के विकास जितना ही अपने को मानकर न रुके और वर्तमान ज्ञान को अंतर स्वभावोन्मुख करे तो अपूर्णता या पर्याय की मुख्यता दिखाई नहीं देती - इससे आत्मा परिपूर्ण ही प्रतीति में आता है। इसप्रकार शुद्धनय द्वारा परिपूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेना, सो यथार्थ सम्यग्दर्शन है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि - 'आत्मा ज्ञानमात्र है, आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है' - ऐसा मान लिया, वह सम्यग्दर्शन है या नहीं ? तो कहते हैं कि ऐसी ओधिक मान्यता नहीं चलेगी। सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मा कहा है, वैसा पहिचानकर रुचि अंतर में ढले तथा द्रव्यस्वभाव में पर्याय की अभेदता हो, तब आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा माना जाता है, इसके अतिरिक्त 'आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा मान लिया' ऐसा कहे तो उससे कहीं सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता। पर्याय अन्तरोन्मुख होकर उसका वेदन-अनुभवन होना चाहिए।

अहो ! सारा जीवन विषय-कषाय में बिता दिया, शरीर के भोग और पोषण में जीवन बिताया और आत्मा की दरकार किए बिना जीवन को मिट्टी में

मिला दिया। तथापि यदि वर्तमान में उस रुचि को बदल दे और आत्मा की रुचि करे तो वह समझ में आये बिना न रहे। आठ-आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि राजकुमारियाँ भी अपने पूर्ण आत्मा को ऐसा मानती हैं कि अहो ! हम तो चैतन्य हैं, अपने आत्मा को सिद्ध भगवान से किंचित् नीचा मानना हमें पसन्द नहीं है, हम अपने आत्मा को परिपूर्ण ही स्वीकार करते हैं। अंतर स्वभावोन्मुख दृष्टि होने से आठ वर्ष की बालिका को भी ऐसा आत्मभान होता है, इसलिए हमारी समझ में यह नहीं आयेगा - ऐसा कदापि नहीं मानना चाहिए। सभी आत्मा चैतन्यस्वरूप हैं और परिपूर्ण समझ सके - ऐसी शक्ति प्रत्येक आत्मा में भरी है।

आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा अनुभव किए बिना, मात्र आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा मान लेने से सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता, क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्र है - ऐसा तो नास्तिकों के अतिरिक्त अन्य सभी मतवाले मानते हैं। इसलिए श्री सर्वज्ञभगवान की वाणी में जैसा आत्मा कहा है, वैसा निर्णय करना चाहिए। श्री सर्वज्ञभगवान एक समय में तीनकाल तीनलोक को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं - ऐसे सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को कितना बड़ा कहा है ? जैसे वे स्वयं पूर्ण हैं, उतना ही आत्मा को कहा है, उससे अपूर्ण नहीं कहा। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न एक ही साथ ज्ञात होती हैं - ऐसे सर्वज्ञ भगवान आत्मा का स्वरूप अपूर्ण या विकारी नहीं बतलाते, किन्तु प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है - ऐसा सर्वज्ञ भगवान बतलाते हैं। इस प्रकार, आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप बतलानेवाले श्री सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं, उनके साधक संतों की दशा कैसी होती है और उनकी वाणी कैसी होती है—ऐसी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान प्रथम करना चाहिए। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि - हे भाई ! यदि तुझे धर्म करना हो तो तुझे अपने आत्मा को अपूर्ण या विकारी मानना योग्य नहीं है। यदि तू आत्मा को अपूर्ण या विकारवाला ही मान लेगा तो अपूर्णता और विकार तेरे आत्मा में से कैसे दूर होंगे ? आत्मा को अपूर्ण मानने से अपूर्णता दूर नहीं होती, किन्तु पूर्ण आत्मा की श्रद्धा करने से अपूर्णता क्रमशः दूर हो जाती है। प्रत्येक आत्मा प्रभु है, पूर्ण सामर्थ्यवान है, अवस्था में भले ही अपूर्णता हो, लेकिन सदैव अपूर्णता बनी रहे-पूर्णता प्रगट ही न हो - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर्याय से

भी परिपूर्ण होना प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है। प्रत्येक आत्मा निर्लेप, निर्दोष, परिपूर्ण परमात्मा है—ऐसा भगवान की वाणी में आया है। ऐसे अपने पूर्ण आत्मा को पहिचान कर उसके अनुभव से ही सम्यग्दर्शन होता है और तभी धर्म का प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

श्री अरिहंत भगवान कहते हैं कि अहो ! पूर्ण चैतन्यघन स्वभाव पर दृष्टि रखकर अंतर्मुख एकाग्र होने से हमने केवलज्ञान प्रगट किया है, प्रत्येक जीव के अंतर में चैतन्य-सागर छलाछल भरा है, उसका अंतर्दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है। परिपूर्ण चैतन्य आत्मा है, उसका भान किए बिना व्यवहार से अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा से यथार्थ सम्यक्त्व नहीं होता।

अपना हित करने के लिए यह बात है। पर का तो कोई कर ही नहीं सकता, अज्ञानी मात्र अभिमान करके भटकता है। आत्मा का कल्याण कैसे हो, उसकी यह बात है। भाई ! तू अपना तो कर, अपना तो सुधार। अपने हित के लिए अपने अंतर्मुख स्वभाव में देख...। अपने पूर्ण स्वरूप को दृष्टि में ले। भाई ! यह देह तो क्षणमात्र में छूट जाएगी। अवस्था में अल्पता होने पर भी, पूर्ण चैतन्यतत्त्व का स्वीकार और अल्पता का निषेध करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है। अहो! आत्मतत्त्व की यह बात तो जगत को सर्व प्रथम समझने जैसी है, दूसरा कुछ आये या न आये लेकिन यह बात अवश्य समझ में आना चाहिए। इसे समझे बिना कल्याण नहीं हो सकेगा। इसे समझेगा तो भवबंधन से मुक्त हो जाएगा।

सर्वज्ञ भगवान की वाणी में वस्तुस्वरूप की परिपूर्णता घोषित की है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण-परमेश्वर है, उसे किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है और प्रत्येक जड़ परमाणु भी अपने स्वभाव से परिपूर्ण - जड़ेश्वर भगवान है। जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र और परिपूर्ण है, कोई तत्त्व किसी अन्य तत्त्व का आश्रय नहीं चाहता—ऐसा समझकर अपने परिपूर्ण आत्मा की श्रद्धा करना, वह सम्यक्त्व है।

अब बारहवीं गाथा के सातवें कलश में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि -

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्तित्।
नवतत्त्वगतत्त्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥7॥

अर्थात् तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है, वह प्रगट होती है, जो कि नवतत्त्व में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

जो भिन्न आत्मज्योति थी, वही प्रगट हुई है। पर्याय की दृष्टि से देखने पर नवतत्त्व दिखाई देते हैं, किन्तु एकरूप चैतन्यज्योतिस्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें नवतत्त्व के भंग नहीं हैं और नवतत्त्व के लक्ष से होनेवाले राग से भी वह पृथक् है। ऐसे शुद्ध आत्मा को देखनेवाले ज्ञान को शुद्धनय कहते हैं। भगवान ! तू अंतर से श्रद्धा-ज्ञान करके वस्तु को पहिचान तो सही ! नवतत्त्व की रागमिश्रित श्रद्धा, वह पुण्यबंध का कारण है; धर्म का कारण नहीं है। नवतत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा है, वह व्यवहारसम्यक्त्व शुभराग है, उसे यथार्थ सम्यक्त्व मानना मिथ्यात्व है। अहो ! आचार्यदेव कहते हैं कि एक अखण्ड चैतन्यस्वभाव की दृष्टि छोड़कर मात्र नवतत्त्व के भेद का अनुभव करना भी मिथ्यात्व है, तो फिर जो कुदेवादि की श्रद्धा करे, उसकी तो बात ही कहाँ रही ? उसकी तो यहाँ बात ही नहीं ली है।

अभेदस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् धर्मात्मा को नवतत्त्व आदि के विकल्प उठते हैं, तथापि उसकी दृष्टि भिन्न एकाकार आत्मज्योति पर है। नवतत्त्व का ज्ञान करने पर भी आत्मज्योति अपने एकत्व को नहीं छोड़ती अर्थात् धर्मी की दृष्टि एकरूप आत्मज्योति पर से नहीं हटती।

जो जीव मात्र नवतत्त्व का रागसहित विचार करता है और भिन्न एकरूप आत्मा का अनुभवन नहीं करता, वह तो मिथ्यात्वी है। नवतत्त्व के भेद में रहने से एकरूप आत्मा समझ में नहीं आता, परन्तु एकरूप आत्मा का अनुभव करने से उसमें नवतत्त्व के रागरहित ज्ञान का समावेश हो जाता है।

यह बात मेरी समझ में नहीं आयेगी—ऐसी बुद्धि रखकर सुने तो उसको समझने का यथार्थ प्रयत्न कहाँ से होगा ? अभी इस समय यह बात मैं सुन रहा हूँ, लेकिन पूर्ण आत्मा की इतनी बड़ी बात कल मुझे याद रहेगी या नहीं ? इसकी भी जिसे शंका हो, वह तो—'अहो, यह मेरे आत्मा की अपूर्व बात है, अंतर्मुहूर्त में मैं एकाग्र होकर इसका अनुभव प्रगट करूँगा'—ऐसी रुचि और नि:शंकता कहाँ से लायेगा ? और उस नि:शंकता के बिना उसका प्रयत्न अंतरोन्मुख कैसे होगा ?

अभी क्या कहा है, उसे अंतर में ग्रहण करके याद रहने की भी जिसे शंका, उसे अंतरोन्मुख होकर वैसा अनुभव कहाँ से हो ? मैं परिपूर्ण, केवली भगवान जैसा हूँ, एक समय में अनंत लोकालोक को जानने का सामर्थ्य मुझमें ही है, अंतर में एकाग्र होऊँ इतनी ही देर है—इस प्रकार अपनी शक्ति का विश्वास करना चाहिए।

नवतत्त्व के भेद की श्रद्धा छोड़कर, अखण्ड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से रागरहित श्रद्धा करना, वह परमार्थ सम्यक्त्व है। अखंड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से नवतत्त्व का रागरहित ज्ञान हो जाता है।

अथ, इस प्रकार भूतार्थ से एक आत्मा को जानना, वह सम्यग्दर्शन है - ऐसा कहते हैं—

'भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथ आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष वह सम्यक्त्व है।'

यहाँ नवतत्त्वों को भूतार्थनय से जानने को सम्यक्त्व कहा है, उसमें भूतार्थ कहने से नवतत्त्व के भेद का लक्ष छोड़कर अंतर चैतन्यस्वभाव की ओर ढलना आया। भूतार्थ एकरूप स्वभाव की ओर ढलकर नवतत्त्वों का रागरहित ज्ञान कर लिया अर्थात् नवतत्त्वों में से एकरूप अभेद आत्मा को पृथक् कर लिया, उसकी श्रद्धा की, वही वास्तव में सम्क्त्व है।

अकेले नवतत्त्व के लक्ष्य से रुककर नवतत्त्वों की श्रद्धा करने को भी मिथ्यात्व कहा है। अभी जिसे यह भी खबर नहीं है कि नवतत्त्व क्या है, उसे तो व्यवहारसम्यक्त्व भी नहीं है। व्यवहारसम्यक्त्व के बिना तो सीधा निश्चय-सम्यक्त्व किसी को हो नहीं जाता और व्यवहारसम्यक्त्व से भी निश्चयसम्यक्त्व नहीं होता। पहले जीव-अजीवादि नवतत्त्व क्या हैं, वह समझना चाहिए। मैं जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ। नवतत्त्व में पहला जीवतत्त्व है। जीव किसे कहा जाए ? शरीरादि जीव नहीं है, राग भी वास्तव में जीव नहीं है और अल्प ज्ञानदशा भी जीवतत्त्व का यथार्थ स्वरूप नहीं है। जीव तो परिपूर्ण चैतन्यमय अनंत गुणों का एकरूप पिण्ड है। मैं परिपूर्ण परमात्मा जैसा हूँ, रागादि रहित चैतन्यस्वरूप हूँ, निमित्त का मुझमें अभाव है और रागादि का निषेध है, इस

प्रकार पहले रागसहित विचार से जीव को मानता है, उसके भी अभी मिथ्यात्व है। तब फिर, पहले जो व्यवहार से-राग मिश्रित विचार से इतना भी नहीं जानता, वह एक चैतन्यतत्त्व का अनुभव किस प्रकार करेगा? वस्तुस्वरूप को समझते और समझाते हुए नवतत्त्व के भेद के विकल्प आये बिना नहीं रहते। भेद किए बिना किस प्रकार समझाया जाए? लेकिन उस भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मैं जीव हूँ, शरीरादि पदार्थ मुझसे भिन्न अजीवतत्त्व हैं। वह अजीव वस्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याययुक्त है, इससे उसकी पर्याय उसके अपने कारण से ही होती है, मुझसे नहीं होती। शरीर की क्रिया जीव के कारण नहीं होती, इससे जीव और अजीवतत्त्व पृथक् हैं। इस प्रकार उन तत्त्वों को पृथक्-पृथक् माने, तब जीव-अजीवादि तत्त्वों को व्यवहार से माना कहा जाए। नवतत्त्वों को नवरूप से भिन्न-भिन्न मानना, उसे व्यवहारश्रद्धा कहते हैं, किन्तु जीव-अजीव सबको एकमेक मानना अर्थात् जीव-अजीव का कार्य करता है—ऐसा मानना, वह व्यवहारश्रद्धा नहीं है। आत्मा, शरीर की क्रिया कर सकता है—ऐसा जो मानता है, उसे तो जीव-अजीव की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। नवतत्त्वों को नवतत्त्वरूप से पृथक् मानना, उस रागसहित श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है और नवतत्त्व के विकल्प से पार होकर अभेद चैतन्यतत्त्व को अंतर्दृष्टि करे, वह परमार्थश्रद्धा है। यह अपूर्व बात है।

प्रश्न - लेकिन साहब, आत्मा को समझने में बुद्धि काम नहीं करती?

उत्तर - भाई ! दूसरे कामों में तो बुद्धि काम करती है न ? - तब फिर दूसरे कार्यों में बुद्धि लगती है और आत्मा में नहीं लगती - इसका कोई कारण ? सांसारिक अभ्यास और व्यापार-धंधे आदि में तो बुद्धि लगाता है और अंतर-चैतन्य को समझने में बुद्धि नहीं लगाता तो उसे उसमें अपना हित भासित नहीं हुआ है। चैतन्यस्वरूप को समझने में ही मेरा हित है—ऐसा यदि यथार्थ भासित हो तो उसमें बुद्धि लगे बिना रह ही नहीं सकती। अहो ! इसमें मेरा कल्याण है, इसमें मेरे प्रयोजन की सिद्धि है—इस प्रकार उसे चैतन्यतत्त्व की महिमा भासित नहीं हुई है। यदि चैतन्य की रुचि हो तो उसमें बुद्धि लगे बिना न रहे और समझ में न आये - ऐसा भी नहीं हो सकता। [आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-1, वर्ष-7]

श्री प्रवचनसार गाथा 271 पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी का प्रवचन

संसारतत्त्व

संसारतत्त्व क्या है, वह बात आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं –

समयस्थ हे पण सेवी भ्रम अयथा ग्रहे जे अर्थने।
अत्यंत फल समृद्ध भावीकालमां जीव ते भमे ॥271॥

जिनमत का द्रव्यलिंगी साधु होकर भी जो जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा का सेवन करता हे, वह अनंत संसार में परिभ्रमण करता है; उसे यहाँ संसारतत्त्व कहा है। आत्मा पर का करता है और पर, आत्मा का करता है – ऐसा जो मानता हो तथा यह मानता हो कि – शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म होगा अथवा अहिंसा आदि पंचमहाव्रत के शुभराग से धर्म होगा – वह जीव भले ही त्यागी-द्रव्यलिंगी साधु हो, तथापि अज्ञान के कारण संसार में भटकता है, अत: वह संसारतत्त्व ही है।

विपरीत श्रद्धावाला आत्मा ही संसारतत्त्व है। संसार क्या है, वह बतलाते हैं। जड़ के संसार नहीं होता और न आत्मा का संसार जड़ में होता है। संसार, आत्मा की विपरीत दशा है। वस्तु स्वरूप की जो विपरीत श्रद्धा करता है – ऐसा मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु – वह संसारतत्त्व है। यहाँ उत्कृष्ट बात में आचार्यदेव ने त्यागी-द्रव्यलिंगी की बात ली है। विपरीत श्रद्धावाले गृहस्थ भी संसार में परिभ्रमण करते हैं, इससे वे भी संसारतत्त्व हैं; लेकिन यहाँ उनकी बात मुख्यरूप से न लेकर द्रव्यलिंगी की बात ली है, उसी में मिथ्यादृष्टि गृहस्थ आदि का समावेश हो जाता है।

प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र है; ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप न जानकर, अविवेक से, 'एक तत्त्व दूरे तत्त्व का करता है' – इसप्रकार तत्त्व को अयथार्थरूप से मानता है, वह विपरीत मान्यतावाला जीव ही संसारतत्त्व है। कोई कहे कि नव तत्त्वों के नाम में तो संसारतत्त्व का नाम नहीं आता; तो क्या वह कोई दसवाँ तत्त्व होगा ? उसका समाधान – नव तत्त्वों के अतिरिक्त दसवाँ तत्त्व संसार में नहीं हो सकता। नवतत्त्व

में पुण्य, पाप, आस्रव और बंध – यह चार संसारतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व के संसार नहीं होता और शुद्ध जीवतत्त्व के स्वभाव में भी संसार नहीं होता और संवर, निर्जरा या मोक्षतत्त्व संसार नहीं है। शेष चार तत्त्वों का समावेश संसारतत्त्व में होता है। वह संसारतत्त्व कहाँ होता है ? शरीर, पैसा, मकान, दुकान या कर्म – यह तो जड़ है, जड़ में संसार नहीं होता। आत्मा की अज्ञानदशा संसार है, वह आत्मा का अरूपी विकारी भाव है, वह आत्मा से बाहर कहीं नहीं होता। अज्ञानी को आत्मा के स्वभाव की तो खबर नहीं है और संसार क्या है – उसका भी भान नहीं है; वह संयोग को ही संसार मानता है। संयोग में स्थित है, इसलिए संसार है और संयोग छूटा, इसलिए संसार छूट गया – ऐसी अज्ञानी की दृष्टि है, वह भ्रांति है और वह भ्रांति ही संसारतत्त्व का मूल है।

संसारतत्त्व अर्थात् चार गति में परिभ्रमण के मूल का सेवन करनेवाला कौन है ? उसकी यह बात है। ऐसे संसारतत्त्व को जानकर उन भावों का सेवन छोड़ने के लिए यह वर्णन है। आत्मा का और शरीरादि का जैसा स्वतंत्र स्वभाव है, वैसा न मानकर, एक-दूसरे का कुछ करते हैं – ऐसा विपरीत माने और पर की दया का जो भाव है, वह पुण्य है, तथापि उसे धर्म माने तो वह तत्त्व का विपरीत ग्रहण है। इसप्रकार अपने अविवेक से तत्त्व का विपरीत निर्णय करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिंगी साधु हुआ हो, तथापि उसे चार गति के परिभ्रमण की जड़ के बनाए रखनेवाला संसारतत्त्व माना गया है। संसार की पेढ़ी कहाँ चल रही है ? द्रव्यलिंगी-मिथ्यादृष्टि के पास वह संसारतत्त्व है; संसारतत्त्व की पेढ़ी का नायक द्रव्यलिंगी-मिथ्यादृष्टि साधु है।

प्रवचनसार की इन अन्तिम पाँच गाथाओं को श्री अमृतचंद्रसूरि ने पाँच रत्नों की उपमा दी गई है, वे शास्त्र के मुकुट समान हैं और उनमें वीतराग शासन का रहस्य भरा है। कलश द्वारा पाँच गाथाओं की महिमा का वर्णन करते हुए श्री आचार्यदेव बतलाते हैं कि – 'इस शास्त्र को मुकुट के अलंकार समान इन पाँच सूत्रोंरूप निर्मल पाँच रत्न जो कि संक्षेप से अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन को सर्वत: प्रकाशित करते हैं, वे विलक्षण (भिन्न-भिन्न) पंथवाली संसार-मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रगट करते हुए जयवंत प्रवर्तमान वर्तें।

उन पाँच में से इस पहली गाथा में संसारतत्त्व का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि द्रव्यलिंगी जैन साधु होकर भी जो तत्त्व का विपरीत निश्चय करते हैं, उन्हें संसार तत्त्व ही जानना। आत्मा के भान बिना मात्र मुनि को आहार देने के शुभभाव से परित संसार हो जाता है – ऐसा जो मानते हैं, वे भले ही त्यागी हों, तथापि संसारतत्त्व ही हैं। बाह्य त्यागी हो गया, इसलिए मोक्षमार्गी हो गया – ऐसा नहीं है। बाह्य क्रियाएँ मैं करता हूँ तथा शुभ-पुण्य से धर्म होता है – इसप्रकार जो पदार्थ का अयथार्थ निश्चय करता है, वह मिथ्यात्व मोह के कारण अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण करेगा – इससे वह संसारतत्त्व है।

आत्मा के धर्म और अधर्म कहीं बाह्य में नहीं रहते, किन्तु वे दोनों आत्मा की दशा में ही हैं। उनमें अधर्म अर्थात् संसारतत्त्व की इस गाथा में पहिचान कराते हैं। आत्मा की अवस्था में जो दयादि विकारभाव हों, उन्हें धर्म माने अथवा जड़-पैसे से पुण्य होता है – ऐसा माने तो वह मिथ्यामान्यता है और वह संसार है। पैसे से पुण्य नहीं होता, किन्तु जीव के मंद राग से पुण्य होता है और यदि पैसा खर्च करने में मान-प्रतिष्ठा के पोषण का अशुभभाव हो तो पाप होता है; उसीप्रकार मंद राग करे तो उससे धर्म नहीं होता, किन्तु पुण्य होता है, तथापि उससे धर्म मानें तो वे विपरीत मान्यतावाले जीव महामोह से मलिन हैं, उनकी विपरीत श्रद्धा में ही संसार भरा पड़ा है, इससे वे ही संसारतत्त्व हैं। यहाँ अभेदविवक्षा से विपरीत मान्यतावाले जीव को ही संसारतत्त्व कहा है। उस जीव को कर्म का उदय विपरीत श्रद्धा नहीं कराता, परन्तु वह स्वयं-अविवेक से तत्त्व को विपरीत श्रद्धा करता है, इससे वह संसार में भटकता है।

यदि बाह्य पदार्थों में जीव का संसार हो तो मरने पर वे बाह्य संयोग छूट जाते हैं, इससे उसका संसार भी छूट जाये और मुक्ति हो जाये। लेकिन ऐसा नहीं है। तत्त्व के संबंध में जीव ने अनादि से विपरीत मान्यता की है, उस विपरीत मान्यता से सतत मोहमल से मलिन वर्तता है और प्रतिक्षण विकारी भावों में ही परिवर्तित होता रहता है, इससे वही संसारतत्त्व है। विपरीत मान्यता ही संसार है, उस मान्यता में अनादिकाल से एक समय भी खण्ड नहीं करता, इससे सतत मोह को एकत्रित करके संसार में भटकता है। यदि एक समय भी उस विपरीत मान्यता को खण्डित

(नाश) करके यथार्थ समझ प्रगट करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

पर के कारण पुण्य-पाप मानना, वह यथार्थ पदार्थ से विरुद्ध श्रद्धा है। कसाई गायें लेकर जा रहा हो और कोई करुणाभाव से पाँच सौ रुपये देकर पाँच गायों को छुड़ा दे - वहाँ जो गायों को छुड़ाने का भाव किया, उसे कोई पाप कहे तो वह मिथ्यादृष्टि है; उस करुणाभाव का तो उसे पुण्य ही है। कसाई फिर पाँच सौ रुपये में अधिक गायें खरीदेगा, उस हिंसा का पाप गायें छुड़ाने वाले को लगेगा - ऐसा कोई मानता हो तो वह बात बिलकुल मिथ्या है। गायें छुड़ानेवाले को तो उससमय के करुणाभाव का पुण्य हुआ। कसाई फिर चाहे जो करे, उसका पाप उसे नहीं है।

और कोई ऐसा कहे कि रुपये खर्च किये, इसलिए पुण्य हुआ, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। जो पुण्य हुआ, वह रुपयों के कारण नहीं, किन्तु उसके शुभभाव से हुआ है।

और तीसरा कोई, पैसे से पुण्य हुआ - ऐसा न माने और शुभभाव से पुण्य माने, किन्तु उस पुण्य से धर्म मनाये तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। इन तीनों प्रकार की मान्यतावाले जीवों की श्रद्धा पदार्थ से विपरीत है।

पहला प्रकार करुणाभाव होने पर भी वहाँ पाप मानता है - उसे आत्मा के शुभ-अशुभ परिणाम का भान नहीं है। पुण्य-पाप तो आत्मा के परिणामों से होते हैं, उसका भी उसे भान नहीं है।

दूसरा प्रकार, जड़ की क्रिया से आत्मा को पुण्य-पाप मानता है, उसे भी जड़ से भिन्न आत्मा के परिणामों का भान नहीं है।

तीसरा प्रकार, शुभभाव से धर्म मनाता है, उसे विकार से भिन्न आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है।

यह सब मिथ्यादृष्टि हैं, इनका समावेश संसारतत्त्व में होता है। जो जीव, पर से पुण्य-पाप नहीं मानता, किन्तु अपने शुभ-अशुभ परिणाम से पुण्य-पाप मानता है, तथा उन पुण्य-परिणामों को धर्म नहीं मानता, पुण्यरहित आत्मस्वभाव को जानता है, वह जीवतत्त्व की यथार्थ श्रद्धावाला सम्यग्दृष्टि है, वह मोक्ष का साधक है।

शेष पृष्ठ 30 पर....

शुद्ध चैतन्य की उपासना का उपाय

साम्यभाव

पद्मनंदिपंचविंशतिका, एकत्व अधिकार, गाथा 63 पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन

श्री सर्वज्ञ भगवान ने सारे जगत में आत्मा की उपासना का क्या उपाय देखा है ? वह आचार्यदेव कहते हैं –

सर्वविद्भिसंसारैः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः।
एतस्योपासनोपायः साम्यमेकमुदाहृतम्॥63॥

आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसके ध्यान में एकाग्रता प्रगट हो, उसका नाम साम्य है। यह साम्य ही आत्मा की उपासना का उपाय है। सारे जगत में आत्मा की शांति का यही उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। – ऐसा किसने कहा ? केवलज्ञानरूपी दिव्य नेत्रों द्वारा समस्त पदार्थों को जाननेवाले तथा संसार रहित ऐसे सर्वज्ञभगवान ने एक साम्यभाव को ही शुद्धात्मा की उपासना का उपाय कहा है। आत्मा का भान करके उसमें स्थिर होने से जिसके राग-द्वेष-अज्ञान बिलकुल नष्ट हो गए हैं – ऐसे सर्वज्ञ भगवन्तों ने ज्ञानचक्षु द्वारा चौदह ब्रह्माण्ड के भावों को प्रत्यक्ष देखा, उनमें आत्मा की शांति का यह एक ही उपाय देखा है कि साम्यभाव आत्मा की शांति है। प्रथम आत्मा की सम्यक्श्रद्धा करना भी साम्यभाव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—यह तीनों साम्यभाव हैं और वही शुद्ध आत्मा की उपासना का उपाय है।

जो स्वयं असंसारी—मुक्त हुए हैं, उन्होंने ऐसा ही उपाय अपने सर्वज्ञज्ञान में देखा है कि हे जीव! तुझे यह समता ही शांति का उपाय है। किन्तु समताभाव किसे कहा जाए? लोग सामान्य मंदकषाय को समता कहते हैं, किन्तु वह वास्तव में समता नहीं, किन्तु विषमता है। ज्ञानमूर्ति आत्मस्वभाव का भान होने से, पुण्य अच्छा और पाप बुरा—ऐसी पुण्य-पाप में विषमता की दृष्टि दूर होकर साम्यभाव प्रगट हो, उसका नाम समता है। समताभाव कहो या ज्ञायकभाव कहो, वही चैतन्य की शांति का मार्ग है। सर्वज्ञदेव ने ज्ञान में चौदह ब्रह्माण्ड के मार्ग

देखे, उनमें शांति का मार्ग एक साम्य ही है – ऐसा देखा है।

सच्चा समभाव किसके होता है ? लक्ष्मी, शरीर आदि परवस्तुएँ मेरी हैं, और मैं उनमें फेरफार कर सकता हूँ, ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे अनुकूलता-प्रतिकूलता में समभाव नहीं रह सकता। लक्ष्मी हो या निर्धनता हो, वे दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं, मैं उन दोनों का ज्ञाता हूँ – ऐसा जिसने भान किया है, उसने उन दोनों में चैतन्य के लक्ष से समता की प्रतीति की है। समता का अर्थ ही ज्ञातापना है। मेरा आत्मा ज्ञाता है, किसी संयोग में फेरफार करने की मेरी शक्ति नहीं है और राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है। वस्तु में जो होता है, उसका मैं ज्ञाता ही हूँ – ऐसी ज्ञान स्वभाव की प्रतीति प्रगट हुए बिना किसी को साम्यभाव नहीं होता। शरीर में निरोगता हो या रोग हो, शत्रु हो या मित्र हो, शुभ हो या अशुभ हो तथा जीवन हो या मरण आये, उन सबमें मैं तो ज्ञाता ही हूँ, एक इष्ट और दूसरा अनिष्ट, ऐसा मेरा ज्ञान में नहीं है—ऐसी जिसे प्रतीति हुई है, उसे उन सब में समता ही है। अस्थिरता के अनुरूप राग-द्वेष हों, तथापि श्रद्धा-ज्ञान में साम्यभाव दूर नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान जैसा ही मेरा ज्ञानस्वभाव है, जगत की समस्त वस्तुओं का मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त जगत में कोई वस्तु मेरी नहीं है, इस प्रकार जिसे चैतन्य की चिंता जागृत हुई है और चैतन्य के लक्ष्य से ज्ञातारूप रहकर सर्व को जानता रहता है, उसे सच्ची समता है, वही धर्म है और वही आत्मा की मुक्ति का उपाय है। इसके अतिरिक्त किसी परपदार्थ में न्यूनाधिकता करना माने तो समताभाव नहीं रह सकता, क्योंकि मैं पर में न्यूनाधिकता कर सकता हूँ—ऐसा जिसने माना है, उसे अपनी इच्छानुसार पर में होगा तो वहाँ मिथ्यात्वपूर्वक का राग और इच्छानुसार नहीं होगा, वहाँ मिथ्यात्वपूर्वक का द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा।

यहाँ श्री आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञभगवान ने एक साम्यभाव को ही आत्मा की उपासना का मार्ग कहा है। देव-गुरु की सेवा करना, सो आत्मा की उपासना का मार्ग है – ऐसा नहीं कहा। पात्र जीव को सच्चे देव-गुरु की सेवा का शुभभाव भले हो, परन्तु उसका लक्ष्य यदि आत्मा की उपासना का न हो और वह देव-गुरु की सेवा के राग में ही धर्म मानकर रुक जाए तो भगवान उसे शांति का

मार्ग नहीं कहते, चैतन्य की उपासना राग द्वारा नहीं होती। चैतन्य स्वभाव की सेवा का-उपासना का मार्ग स्वभाव ही है।

प्रथम शुद्ध आत्मा को पहिचान कर सम्यग्दर्शन प्रगट करना भी साम्यभाव है। मैं जगत का साक्षी-ज्ञाता हूँ, सारा जगत डिग जाए किंतु अपने ज्ञातापने की प्रतीति न डिगे—ऐसा सम्यग्दृष्टि का साम्यभाव है और तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष स्थिरता होने से ज्ञाताभाव और वीतरागभाव की वृद्धि हो जाने से राग-द्वेष भी न हो—वह चारित्र दशा का साम्यभाव है।

'जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता
भवमोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो...'

इसमें तो चारित्रदशा के उत्कृष्ट समताभाव की बात है। आत्मा के अनुभव में लीनता होने से ऐसा ज्ञाताभाव प्रगट होता है कि प्रतिष्ठा अच्छी और अप्रतिष्ठा बुरी, जीवन रहे तो ठीक और मरण बुरा, भव बुरा और मोक्ष हो तो अच्छा - ऐसा विकल्प भी नहीं उठता। ऐसा साम्यभाव आत्मा की उपासना का और मोक्ष का उपाय है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। किन्तु ऐसी समता कब आती है ? पहले नित्यानंद आत्मा को जाना हो तो उसमें एकाग्रता से जीवन-मरण आदि में समताभाव रहे। पर से भिन्न आत्मा के ज्ञानस्वभाव को जिसने जाना, उसे ज्ञान का समताभाव प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। यह समताभाव ही आत्मा की शांति का एकमात्र उपाय है। **[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-7, वर्ष-7]**

मुनिराज को पूर्ण शुद्धता की ही भावना

अहा! मुनिराज को बहुत शुद्धता तो हुई है परन्तु अभी किञ्चित् कषाय-कण से परिणमन में मलिनता है, वह सुहाती नहीं है; इसलिए उसका नाश करके पूर्ण शुद्धता की भावना है और वह पूर्ण शुद्धता मेरे शुद्ध चिन्मात्रस्वभाव के घोलन से ही होगी - ऐसा भान है। विकल्प का तो नाश करना चाहते हैं, तब वह विकल्प शुद्धता का साधन कैसे हो सकता है ? शुद्धता का साधन विकल्प नहीं होता, शुद्धस्वभाव की घोलन ही शुद्धता का साधन है। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

श्री समयसार नाटक पर

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी का धारावाही प्रवचन

प्रथम प्रवचन

यह श्री नाटक समयसार शास्त्र अब प्रारम्भ होता है। इस शास्त्र के रचनाकार पण्डित श्री बनारसीदासजी चार सौ वर्ष पूर्व हो गये हैं। वे अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे। अपनी युवाअवस्था में उन्होंने श्रृंगाररस पोषक अनेक रचनाओं का निर्माण किया था, किन्तु जब सच्चा संग प्राप्त हुआ और आत्मानुभव हुआ तो उन कृतियों को नदी में बहा दिया।

पण्डित बनारसीदासजी महाकवि थे। अन्तिम समय में तुलसीदासजी से उनकी भेंट हुई थी। बनारसीदासजी को सुनकर तुलसीदासजी को बहुत संतोष हुआ था। उन्होंने बनारसीदासजी को रामायण भेंट की थी। ये सब बातें इस शास्त्र के प्रारंभ में पण्डितजी के जीवनवृत्त में लिखी हैं। वे युवा-अवस्था में कुपथगामी हो गये और पश्चात् युवा-अवस्था में ही जीवन की दिशा परिवर्तित हो गई। उन्हें एक रूपचंदजी साधर्मी मिले, जिन्होंने उन्हें श्री गोम्मटसार दिया। उसे पढ़ते ही पण्डितजी स्वच्छन्दता से एकदम पीछे हट गये। सम्यग्दृष्टि की दशा, श्रावक की दशा तथा उनका व्यवहार आदि कैसा होता है- इसका परिज्ञान होते ही दृष्टि खुल गई। फिर राजमल्लजी कृत श्री समयसार कलश टीका मिली, जिसे पढ़कर उसके आधार से बनारसीदासजी ने इस नाटक समयसार की रचना की है। इसका वाचन आज अपने यहा प्रारम्भ होता है।

सर्व प्रथम ॐ से शास्त्र का प्रारम्भ होता है। ॐ अर्थात् भगवान की वाणी। भगवान को जहाँ अखण्ड दशा प्रकट हुई कि वाणी भी अखण्ड ही जाती है। "ॐ कार धुनि सुनि अर्थ गणधर विचारें"- भगवान की निरक्षरी वाणी सुनकर उस पर से गणधरदेव द्वादशांग की रचना करते हैं। ॐ पंच परमेष्ठीपद का वाचक है।

श्री परमात्मने नमः- जिन्हें पूर्णानंद और ज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे लक्ष्मीवंत परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

हिन्दी टीकाकार का मंगलाचरण

निज स्वरूप को परम रस, जामैं भरौ अपार।
वन्दों परमानंदमय, समयसार अविकार।।1।।
कुन्दकुन्द मुनि चन्दवर, अमृतचन्द मुनि इन्द।
आत्मरसी बनारसी, वन्दौं पद अरविंद।।2।।

अब, हिन्दी टीकाकार मंगलाचरण में कहते हैं कि इस समयसार नाटक में निज स्वरूप का परम रस भरा है। कैसा है निज स्वरूप ?परम आनंदमय है। उस अपार, अपरिमित, अविचल, अनंत आनन्दमय, भगवान आत्मा को मैं वंदन करता हूँ।

आज से लगभग 2000 वर्ष पूर्व संवत् 49 में कुन्दकुन्दाचार्य हो गये हैं। कैसे थे वे ?मुनिचन्द्रवर अर्थात् मुनियों में भी जो श्रेष्ठ थे। उन्होंने इस समयसार शास्त्र की रचना की। उस पर श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने टीका लिखी और जैसे मन्दिर के ऊपर कलश होते हैं, वैसे ही टीका पर कलशों की रचना भी उन्होंने की हैं। उन कलशों का अर्थ इस नाटक समयसार में किया गया है।

पण्डित बनारसीदासजी गृहस्थ थे, किन्तु आत्मरसी थे। गृहस्थदशा में कोई आत्मा का रस न ले सके ऐसा नहीं है। गृहस्थ दशा में होने पर भी धर्मी को आत्मा के आनन्द का ही रस है। राग आता है, किन्तु उसका रस नहीं है। देखो न! भरतचक्रवर्ती आदि हो गये हैं। उनके गृह में तो 96 हजार रानियाँ और 96 करोड़ तो सेना थी, किन्तु उनकी श्रद्धा क्या कार्य करती थी ?कि 'जहाँ मैं हूँ, वहाँ तो आनंद है।' ऐसे ही आत्मरसिक बनारसीदासजी हो गये हैं।

अब बनारसीदासजी स्वयं मंगलाचरण करते हैं- जैसे श्रृंगारकवि थे, पलटकर वैसे ही जबरदस्त अध्यात्मकवि हो गये थे। उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों में से तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति की है; क्योंकि भगवान पार्श्वनाथ काशी-बनारस में हुए थे और कविवर पण्डित बनारसीदासजी भी वहीं के थे, तभी तो माता-पिता ने उनका नाम 'बनारसी' रखा था।

ग्रन्थकार की ओर से मंगलाचरण

(श्री पार्श्वनाथजी की स्तुति)

करम-भरम जग-तिमिर-हरन खग,
उरग-लखन-पग सिवमगदरसी।

निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविकजन-सरसी।।
मदन-कदन-जित परम-धरमहित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनरसी।।1।।

अर्थ:- जो संसार में कर्म के भ्रमरूप अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान हैं, जिनके चरण में सांप का चिह्न है, जो मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले हैं, जिनके दर्शन करने से भव्य जीवों के नेत्रों से आनंद के आंसू बह निकलते हैं और अनेक भव्यरूपी सरोवर प्रसन्न हो जाते हैं, जिन्होंने कामदेव को युद्ध में हरा दिया है, जो उत्कृष्ट जैनधर्म के हितकारी हैं, जिनका स्मरण करने से भक्तजनों के सब डर दूर भागते हैं, जिनका शरीर पानी से भरे हुए मेघ के समान नीला है, जिनका मुकुट सात फण का है, जो कमठ के जीव को असुर पर्याय में परास्त करने वाले हैं; ऐसे पार्श्वनाथ जिनराज को (पंडित) बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।।1।।

ग्रन्थकार कृत-मंगलाचरण पर प्रवचन

भगवान पार्श्वनाथ कैसे थे?जैसे सूर्य अंधकार को हर लेता है, उसी तरह अज्ञानरूपी अंधकार को हरने के लिए भगवान सूर्य के समान हैं। भगवान मोक्षमार्ग को दर्शानेवाले हैं। पूर्णानंद को प्राप्त सर्वज्ञ भगवान की इच्छा बिना ही वाणी छूटती है और मुक्ति का मार्ग दिखलाती है। यह कोई संसारमार्ग नहीं दिखलाती है कि किस तरह तुम्हारा संसार ठीक चले, कैसे तुम विद्या पढ़कर आगे बढ़ो ऐसा भगवान नहीं कहते। भगवान तो शिव मारगदर्शी हैं; संसार मारगदर्शी नहीं।

भगवान के दर्शन करते हुए भव्यजीवों के नेत्रों से आनन्द अश्रु बहते हैं। पूर्ण आनन्द रस में लवलीन प्रभु को देखते ही भव्यजीवों को ऐसा लगता है कि अहा! ऐसे प्रभु! परम शान्त पूर्ण आनन्दरस के पुंज हो गये हैं। ऐसे प्रभु के शरीर में से भी मानो शान्तरस झरता है! उन्हें देखते ही भव्य की आँखों में से हर्ष के आँसू झरते हैं। आनंदघनजी कहते हैं-

"देखन दे सखी मुझे देखन दे, चंद्रप्रभु सुखचंद सखी देखन दे।"

अरे! मैं एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, कौऐ-कुत्ते के भव में भ्रमता था। कहीं भी मुझे प्रभु के दर्शन नहीं हुए।

अरे ! मैं कहाँ था ?निगोद में, पानी की एक बूँद में कितने जीव ?पानी के ऊपर हरी काई होती है, उसके एक कण में असंख्य तो शरीर और एक-एक शरीर में अनन्त जीव। अब वे जीव कब मनुष्य हों और कब प्रभु के दर्शन करें ? 'देखन दे सखी देखन दे'----मेरे नयन के आलस्य से ही मैंने प्रभु को नहीं देखा। इस प्रकार जिसे अपने हरि को देखने की लगन लगी है, उसको भगवान के दर्शन मात्र से आनन्द के आँसू उमड़ पड़ते हैं। उसका हर्ष कहीं समाता नहीं है।

देखो ! यह परमात्मा की स्तुति है किन्तु वस्तुतः तो भव्यजीव परमात्मा का बहाना लेकर आत्मा की स्तुति करता है। प्रभु को देखते ही भव्यरूपी सरोवर प्रसन्न हो जाता है। उसे अमर्यादित-अपार आनंद होता है।

'मदन कदन जीत' -भगवान ने कामदेव को युद्ध में पराजित कर दिया है। भगवान आत्मा के परम शांत रस का अनुभव करते ही काम का रस नहीं रहता। भगवान आत्मा तो काम की वासना का नाशक ही है। काम की वासना रखनेवाला भगवान आत्मा नहीं है।

भगवान उत्कृष्ट जैनधर्म के हितकारी हैं। प्रभु परम धर्म के हितकर हैं। जिसका स्मरण करते ही भक्तजनों के सब भय दूर हो जाते हैं।

पार्श्वनाथ भगवान का शरीर कैसा था ? कि सजल-जलद, जल से भरे हुए बादलों जैसा नीले रंग का था। सात फण का तो जिनके मुकुट था। जब पार्श्वनाथ मुनिदशा में ध्यानस्थदशा में खड़े थे, तब ऊपर से असुरदेव पर्याय को प्राप्त कमठ का विमान निकला था। प्राकृतिक नियमानुसार यह नियम है कि आनंद के साधक संत जहाँ विराजमान हों, वहाँ उन्हें नमस्कार किये बिना विमान आगे नहीं जा सकता; वहीं स्थिर हो जाता है। तदनुसार कमठ के जीव का विमान भी स्थिर हो गया। जब नीचे आकर देखा तो पार्श्वनाथ ध्यान में लीन थे। कमठ एकदम क्रोधित हो उठा कि अरे ! इसने मेरा विमान रोका। कमठ का वैर आठ भव से चला आ रहा था। उसने क्रोध में आकर पार्श्वनाथ के ऊपर वर्षा की, पत्थर फेंके, बिजली की चमकार की, स्वयं भूत-प्रेत का रूप लेकर आया; किन्तु प्रभु तो ध्यान में लीन थे।

भगवान पार्श्वनाथ जब राज्यावस्था में थे, तब एकबार वे जंगल में घूमने गये। तब वहाँ उनके नाना तापस होकर यज्ञ में लकड़ी को होम कर रहे थे।

पार्श्वकुमार ने अवधिज्ञान द्वारा उस लकड़ी में बैठे नाग-नागिन को देखा। ये जल जायेंगे ऐसा सोचकर जब लकड़ी फाड़कर देखा तो दोनों जीवन की अन्तिम स्थिति में थे। पार्श्वकुमार ने दोनों को नमस्कार मंत्र सुनाया। वे नाग और नागिन मरकर स्वर्ग में धरणेन्द्र और देवी हुए। अभी भी वे दोनों देव-देवी के रूप में स्वर्ग में हैं। मुनिदशा में जब पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुआ तो उनका आसन कंपित हुआ और उन्होंने आकर उस उपसर्ग का निवारण किया।

धरणेन्द्र ने सप्त फणवाले सर्प का रूप धारण कर प्रभु पर छाया की और अखण्ड वर्षा से रक्षा की। इसी कारण से भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर सप्त फणवाला चिह्न प्रचलित हो गया, जिसे कवि ने यहाँ मुकुट की उपमा दी है।

इसप्रकार कमठ के जीव को असुरपर्याय में जिन्होंने पराजित किया ऐसे उन पार्श्वनाथ जिनराज को (पण्डित) बनारसीदासजी वंदन करते हैं।

देखो! एक ही श्लोक में कितना रस भर दिया है। भगवान कैसे होते हैं? छद्मस्थदशा में भगवान पर कैसा उपसर्ग आया था? उसका निवारण धरणेन्द्र पद्मावती ने किसप्रकार किया था ?इत्यादि बहुत सी बातें इस प्रथम स्तुति में आ गई हैं।

यह मंगलाचरण की स्तुति थी। मंगल का अर्थ यह है कि मंग-पवित्रता और ललाति। जो पवित्रता को लावे, वह मंगल है। अथवा मम पाप, गल गाले। भगवान आनन्दस्वरूप में आकर अज्ञान और राग-द्वेष के पाप को गाले, वह मंगल है। पैसा मिलना या मान मिलना -यह मंगल नहीं है।।1।। क्रमशः

वीतरागी सन्तों से जगत् की शोभा

यह विश्व मात्र वीतरागभावरूप धर्मतीर्थ से ही शोभित होता है। ऐसे तीर्थ के साधक और प्रवर्तक सन्त, जगत् में शोभित होते हैं। वे सन्त जहाँ - जहाँ जाते हैं, वहाँ आनन्द मंगल वर्तता है। ग्रीष्म के तीव्र ताप से संतप्तजनों को जैसे मेघ-वर्षा से शान्ति होती है, उसी तरह भव-ताप से संतप्त भव्यजीवों को वीतरागी सन्तों की वाणीरूप मेघ-वर्षा परम शान्ति प्रदान करती है - अहो! ऐसे उपकारी सन्तों को नमस्कार हो। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

विराग

गतांक से आगे

[श्री शुभचंद्राचार्य तथा भर्तृहरि का एक प्रसंग]

जब शिष्य के द्वारा ऐसा समाचार सुना कि शुभचंद्र बहुत दु:खी दशा में है, तब उनका दु:ख मेटने के लिए अपनी आधी रस-तुम्बी भेजी और कहा कि भैया को दे आना, समझाना कि यह दुर्लभ वस्तु है, स्पर्श मात्र से ताँबा, सोना बन जाता है, आपकी दरिद्रता को देखकर सुखी करने के लिए आपके लघुबन्धु ने यह कठिन साध्य वस्तु आपके लिए भेजी है, उनका उपयोग करके सुख-सुविधा में रहे.... । (देखो, संयोग में एकताबुद्धि-देहात्मबुद्धिवान पर से सुख-दु:ख इष्ट-अनिष्ट मानता है, मनवाना चाहता है, सबको अपनी देहाश्रित ममता की दृष्टि से देखता रहता है, वह मिथ्या प्रतिभास ही सबसे बड़ा पाप है; दु:ख है, संसार है ।)

शिष्य जब शुभचंद्रजी (जो निरंतर आत्मिक सुख में तृप्त हैं, सुखी ही हैं) के पास पहुँचता है, वह रस-तुम्बी सामने रखकर सब निवेदन किया। उपेक्षाबुद्धि से देखा—जवाब दिया—कि उसे पत्थर पर पटको... शिष्य दुविधा में पड़ गया, अरे... कितनी वनस्पति-धातुओं का कष्टसाध्य रस कैसे पटका जाए? शुभचन्द्र ने फिर कहा, त्याग की वस्तु के प्रति इतना ममत्व क्या! पटक दो... दु:ख के साथ आज्ञा का पालन किया, लौटकर भर्तृहरि को यह हाल सुनाया कि बड़े भाई ने ऐसा कहा, उनको आज्ञानुसार वह सिद्ध किया गया, रस पत्थर पर फेंक दिया। भर्तृहरि को जितना मोह अपने शरीर के प्रति था, उतना ही मोह सुवर्णसिद्धि रस के ऊपर था, समाचार सुनकर सन्न हो गए, हृदय में बहुत बड़ा आघातरूप वेदना का अनुभव करने लगा, रात भर चिंतित रहा, हाय मैंने गलती की, इतनी बहुमूल्य वस्तुएँ कहीं यों भेजी जाती हैं? अब मैं जाकर भैया को समझा दूँगा, ऐसी भूल नहीं होने दूँगा, इत्यादि संकल्प-विकल्परूप आर्तध्यान करते रहे, फिर सोचता है कि हो सकता है कि मेरे शिष्य ने भैया को इस दुर्लभ रसायन रस की ठीक-ठीक महत्ता ही न बताई हो, सुबह तक अनेक चिंताओं में मशगूल रहा, बिस्तर में पड़ा रहा, सो नहीं पाया।

सुबह उठा, असंतोष मिटाने का व्यर्थ उपाय जो इच्छा की पूर्ति करने की महत्त्वाकांक्षा के लिए स्वयं अपनी आधी बीच रसकुप्पी लेकर चल पड़े भैया को

देखने के लिए। संयोगी दृष्टि तो थी ही, दूर से देखा, क्या देखा चमड़े को, कि ओह... भैया का कृश शरीर है, एकाकी असहाय है, अनाथ है, तपोबल से उद्दीप्त शांत सौम्यमुद्रा से दृढ़ पद्मासन पर आसीन है, ज्ञानानंदमय तत्त्व को न पहचानकर चर्मचक्षु द्वारा पहचाना—'कि अहो यही मेरा बड़ा भैया ही तो है।' और वह गद्‌गद् हो उठा, चरणों में गिरकर अभिवादन किया-'सप्रेम वंदना....'

सर्वज्ञ वीतराग कथित सच्चे योगिराज शुभचंद्र तो उत्तम क्षमा, संतोष, अकिंचन भावना से अलंकृत थे, सहज अपनी आत्मलक्ष्मी के अवलोकन से सदा तृप्त ही थे। कोई खड़ा है नजर उठाकर देखा तो भर्तृहरि... गेरुआ वस्त्रों, माला, जटा आदि से मंडित, मृगचर्म सहित परिग्रहधारी छोटा भैया था... धर्मवृद्धि हो!

भर्तृहरि बोला—'भैया! जैसे ही सुना कि तुम अनाथ हो, संकट में हो, आधी तूँबी कंचनरस भेज दिया था, लेकिन व्यर्थ गया! अब शेष आधी तूँबी भी लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।'

'हाँ! क्या होता है इससे?'—सोना बनाया जाता है—भैया, बड़ी बेशकीमती चीज़ है!'

'सोना!' शुभचंद्र ने पूछा और तूंबी उठाकर पत्थर पर पटक दी। भर्तृहरि सन्न!!! शुभचंद्र बोले—कहाँ हुआ सोना?—रुँधे गले से कहा—'भैया! पत्थर नहीं, तांबा सोना बनता है। तुमने यह क्या किया... उफ!!! बारह वर्ष गुरु की सेवा करने पर इसे पा सका था-मैं। ओह यह अति दुर्लभ वस्तु न तुम्हारे काम आई, न मेरी रही।

शुभचंद्र मुस्कराये—भर्तृहरि की सरलता और भोलेपन पर! फिर बाले—'भर्तृहरि! तुम घर छोड़कर विराग के लिए, यहाँ आये थे,—धन, दौलत, मान-सन्मान और राज्यलक्ष्मी को ठुकराकर। मैं देख रहा हूँ सोने के लोभ को यहाँ आकर भी तुम नहीं छोड़ सके हो! आज भी तुममें कलंक बाकी है। इतने वर्ष बिताकर भी मिथ्या प्रतिभास—अज्ञानता वश रहे, इसे विराग नहीं, दम्भ कहते हैं भोले प्राणी! धर्म के नाम अनंत भव में कई ढोंग कर चुके... पवित्र होने का उपाय अपूर्व है... जैसे सूर्य सदा प्रकाशमय ही है, वह कभी भी अंधकार का ग्रहण या त्याग कर सकता है? नहीं; उसी प्रकार यह आत्मा चाहे अशुद्धरूप परिणमे या शुद्धरूप किंतु परद्रव्य को किसी भी प्रकार ग्रहण-या त्याग नहीं कर सकता। हाँ,

रागी जीव उनकी भूमिका के अनुसार ये करना, ये न करना, ऐसा रागभाव कर सकता है, अपने त्रैकालिक निर्मल पूर्ण विज्ञानघन स्वतत्त्व के आलंबन के बल द्वारा भेदविज्ञान की प्रवीणतारूप स्वसन्मुख ज्ञाता बन अपूर्व धैर्य को धारण कर सकता है। स्वाधीनता को छोड़ना, पराधीनता मोल लेना कहाँ तक ठीक है? प्रथम तो सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है, जो सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को और निजरूप को विपरीतता रहित और यथार्थता-भावभासन सहित जानना ही तत्त्वविचार के उद्यमरूप प्रथम नंबर का छोटा सा धर्म है। वीतरागतारूप चारित्र धर्म ऊँचे नम्बर का धर्म है, जो सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही हो सकता है। कुछ समझे भैया!

भर्तृहरि टकटकी लगाकर सुन रहा था—अपने को अपने भीतर कुछ उजाला-सा होता मालूम दिया। किंतु मन में दुविधा का दुःख दूर नहीं हुआ था। शुभचंद्र कहते गए—क्योंजी, आपको सुवर्ण की ही चाह है? तो लो कितना सोना चाहते हो?

विशाल पत्थर पर अपनी चरण रज छोड़ दी! आश्चर्य... तपोबल की पवित्रता और पुण्य की अचिंत्य शक्ति!! वह सारा पत्थर सोना बन गया। भर्तृहरि आँखें फाड़े देखता भर रह गया-अचम्भित-सा।

हृदय भर आया उसका। भैया की सम्यक् रत्नत्रयरूप तपस्या ने मोह लिया। पैरों में गिरकर बोला—'मुझ डूबते को उबारिए—महाराज! मैं अपने को आपके चरण-शरण में अर्पण करता हूँ।'

तृप्ति हुई चिंता गई, मनुवा बेपरवाह।
जिन्हें कछू न चाहिए, सो शाहनपति शाह॥

—: सूचना :—

तीर्थधाम मङ्गलायतन में द्वारा हुए कार्यक्रमों VCD / MP3 को आप द्वारा देख सकते हैं:—

आप Computer में Youtube पर MANGALAYATAN JAIN MANDIR सर्च करे, उसमें तीर्थधाम मङ्गलायतन पंचकल्याणक 2003; मङ्गलायतन विश्वविद्यालय पंच - कल्याणक 2010; मंगल बोधि VCD; मंगल कथा VCD; धन्य मुनिदशा VCD; मङ्गलायतन - एक आह्वान (परिचय); मुनि सुकुमाल कथा; महावीर पूजन आदि आप देख सकते हैं / DOWNLOAD कर सकते हैं।

आचार्यदेव परिचय शृंखला

भगवान आचार्यदेव
श्री रविषेणस्वामी

आचार्यदेव रविषेणस्वामी अपने ज्ञायक स्वभाव की मस्ती में मस्त विचरते होने पर भी, आपका महान धर्मात्मा पुराणपुरुष श्री रामचंद्रजी मुनीन्द्र पर हृदय उमड़ आया। जिससे प्रेरित होकर आपने रामचंद्रजी की गौरवपूर्ण गाथा को 'पद्मपुराण' में एकतान होकर लेखनीरूप से आकार दिया। जिसमें आपकी श्री रामचंद्रजी भगवान के प्रति भक्ति प्रचुरता ही प्रतीत होती है। ऐसे शुद्धोपयोग की प्रचुरता सह भक्ति की प्रचुरता के धारक ये आचार्य रविषेणजी थे।

जिनवाणी का लोकप्रिय अंग प्रथमानुयोग अर्थात् कथा-साहित्य के संस्कृत रचयिता के रूप में सर्व प्रथम रविषेणाचार्य ही हैं, उनसे पहले इतने विस्तृतरूप में प्रथमानुयोग रचयिता अन्य कोई आचार्य नहीं हुए हैं। 'पद्मपुराण' रचकर पाठकों को संसार से विरक्त कर धर्ममार्ग में ला दे—ऐसे हृदय को छू जानेवाला अनुपमग्रंथ आपने अत्यंत सरल भाषा में रचा होने से आप जैन समाज में अत्यंत प्रिय हैं।

आपके पश्चात्वर्ती समर्थ आचार्य जिनसेनस्वामी ने भी आपको भक्ति से स्मरण किया है।

आचार्य रविषेण किस संघ या गण-गच्छ के थे, इसका उल्लेख उनके ग्रंथ 'पद्मचरित' में उपलब्ध नहीं होता। 'सेन' नामक अंत शब्द ही इस बात का सूचक प्रतीत होता है कि आप 'सेनसंघ' के आचार्य थे। 'पद्मचरित' में निर्दिष्ट गुरु परंपरा से अवगत होता है, कि इन्द्रसेन के शिष्य दिवाकरसेन थे और दिवाकरसेन के शिष्य अर्हत्सेन थे व इन अर्हतसेन के शिष्य लक्ष्मणसेन हुए और लक्ष्मणसेन के शिष्य रविषेण हुए।

आपके जन्मस्थान, बाल्यकाल, किशोर व युवावय के जीवन आदि संबंधित कुछ भी जानकारी नहीं मिल पायी है।

आचार्यवर रविषेणजी ने पद्मचरित के 43वें पर्व में जिन वृक्षों का वर्णन किया है, वे वृक्ष दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। इस तरह आपका भौगोलिक ज्ञान

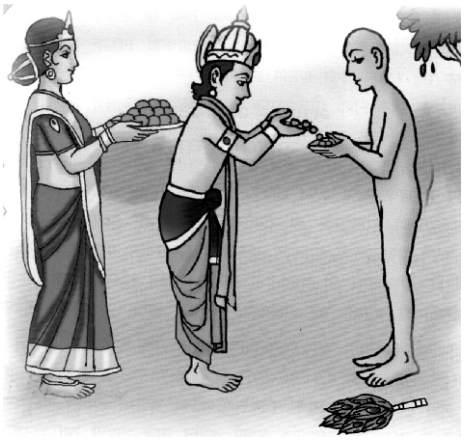

नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान ग्रहण करते आचार्य रविषेणजी

भी दक्षिण भारत का जितना स्पष्ट और अधिक है, उतना अन्य भारतीय प्रदेशों का नहीं। अतएव आपका जन्मस्थान दक्षिण भारत का भूभाग होना चाहिए।

यद्यपि आपने पद्मचरित (पद्मपुराण) की रचना में विमलसूरिकृत प्राकृत 'पद्मचरियम्' का आधार लेने पर भी आपकी रचना मौलिक रचना ही हो ऐसा प्रतीत होता है। इस पुराण के कथानायक मुनि रामचंद्रजी हैं, पर अवांतर प्रसंग भी हृदय को छू जाए इस तरह से रखे गए हैं व लेखन शैली सभी रसों की गारवता को रखती हुई पाठक के हृदय को लुभाती है।

आपने मात्र एक 'पद्मचरित (पद्मपुराण)' ग्रंथ की रचना की है।

आपके 'पद्मपुराण' की रचना वि.सं. 734 अर्थात् ई.स. 677 में हुई होने से आपका काल ई.स. 677 है।

पद्मपुराण के रचयिता आचार्यदेव रविषेण भगवंत को कोटि कोटि वंदन।

❀ ❀ ❀

भगवान आचार्यदेव
श्री जटासिंहनंदि अपरनाम जटाचार्य

ज्ञानानंदस्वभाव की मस्ती की प्रचुरता में रत्नत्रयमयरस के भोजी, दक्षिणदेश के प्राचीन आचार्य जटासिंहनंदि की मुख्यरूप से एक ही सुंदर रचना 'वरांगचरित्र' नाम से प्रसिद्ध है।

आप इतने प्रसिद्ध थे कि जैनाचार्य ही नहीं, परन्तु अन्यमत के विद्वानों ने भी आपको गौरव से स्मरण किया है। जैनाचार्य में हरिवंशपुराण के रचयिता आचार्यदेव जिनसेनस्वामी (प्रथम) व आदिपुराण के रचयिता आचार्यदेव

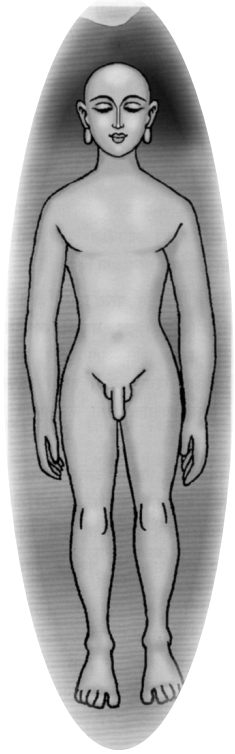

जिनसेन (द्वितीय) ने बहुत ही सन्मान से 'वरांगचरित्र' को व आपको अर्थात् जटासिंहनंदि आचार्य को सन्मानित किया है।

ख्याति, कुल, जाति, कुटुम्बादि से अति निस्पृह रहते जैनाचार्यों की यह विशेषता, उनके प्रत्येक ग्रंथों में झलकती है, कि वे हमेशा इस बारे में मौन रहते हैं। मात्र आपकी ख्याति ही आपके पश्चात्वर्ती आचार्यों के ग्रंथों में झलकती है, उससे ही आपके संबंध में यत्किंचित् जाना जाता है। उसी तरह भगवान श्री जटासिंहनंदि के बारे में कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

फिर भी विद्वानों के एक शोधपूर्ण लेख के आधार से यह जाना जाता है, कि ''किसी समय निजाम स्टेट का 'कोपल' ग्राम, जिसे 'कोपण' भी कहते हैं, जैन संस्कृति का एक प्रसिद्ध केंद्र था। मध्यकालिन भारत के जैनों में इसकी अच्छी ख्याति थी और आज भी यह स्थान पुरातन-प्रेमियों के स्नेह का भाजन बना हुआ है। इसके निकट 'पल्लकीगुण्डु' नाम की पहाड़ी पर अशोक का एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसके निकट दो पद-चिह्न अंकित हैं। उनके ठीक नीचे पुरानी कन्नड़ में दो पंक्ति का एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें लिखा है कि 'यावय्यने जटासिंहनन्द्याचार्य के पदचिह्नों को तैयार कराया।''

यह भी जाना जाता है कि आप एक महाकवि थे तथा कन्नड़ साहित्य में आपके संबंध में आई भूरि-भूरि प्रशंसा से यह सूचित होता है, कि आपका अधिकांश विहार कर्णाटक प्रदेश में हुआ था व 'कोपल' में आपने अंतिम जीवन व्यतीत किया था।

आचार्यदेव जिनसेन (द्वितीय) ने आपके लिए लिखा है, उस पर से प्रतीत होता है, कि आपकी लहराती हुई कीर्तिरूप जटाएँ लम्बी-लम्बी थी। यह मात्र आपकी ख्यातिरूपी जटाओं के बारे में ही उल्लेख हो, ऐसा प्रतीत होता है। उसी

भाँति आप अपने शरीर के प्रति इतने अधिक निस्पृह होंगे व गहन जंगल में ही विशेष विचरण करते होने से आपको 'आदिवासी' के रूप में ही लोग स्मरण करते रहे होंगे। इतिहासकारों की ऐसी कल्पनामात्र ही प्रतीत होती है।

आपकी जानी-पहचानी मात्र एक ही कृति 'वरांगचरित्र' होने का उल्लेख मिलता है, फिर भी अन्य शास्त्रों में आपके नाम से दिये जाते श्लोक 'वरांगचरित्र' में उपलब्ध नहीं होने से विद्वानों का मानना है, कि आपकी 'वरांगचरित्र' के अलावा अन्य कृति भी होनी चाहिए।

आपका काल ई. की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध व आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध के आसपास ही होना निश्चित होता है।

आचार्यदेव जटासिंहनंदि भगवंत को कोटि कोटि वंदन।

....पृष्ठ 15 का शेष

संसारतत्त्व

पैसादि परपदार्थों से आत्मा को पुण्य-पाप होते हैं - यह बात स्थूल अज्ञान है। एकेन्द्रिय जीव को बाह्य में कुछ भी सामग्री न होने पर भी वह अपने स्वतंत्र वीर्य की स्फुरणा से शुभभाव करता है। किसी एकेन्द्रिय जीव को ऐसा पुण्य होता है कि वहाँ से निकलकर सीधा अरबों रुपये की आमदनी वाला राजकुमार होता है। उसके पास कहाँ पैसादि है ? भीतर परिणामों में कुछ कषाय की मंदता से शुभभाव होने पर उसके फल में राजा होता है। इसलिए बाह्य-साधन से पुण्य होता है - ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो, तब तो एकेन्द्रिय जीव वहाँ से कभी निकल ही नहीं सकता। ऐसा वस्तुस्वरूप होने पर भी परवस्तु से पुण्य या धर्म मनाता हो - ऐसा द्रव्यलिंगी साधु - वह संसारतत्त्व है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु में अभाव है अर्थात् एक परमाणु दूसरे परमाणु के आधार से नहीं है। एक तत्त्व का दूसरे में अभाव होने पर भी एक दूसरे का स्पर्श करते हैं या एक-दूसरे का कार्य करते हैं - ऐसा मानना, वह भ्रम है; वे विपरीत मान्यतावाले जीव भले ही द्रव्यलिंगी हुए हों, तथापि अनंतकाल तक अनंत भावांतररूप संसार परिभ्रमण करेंगे - इससे उन्हीं को यहाँ संसारतत्त्व कहा है।

[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-1, वर्ष-7]

उपदेश सिद्धांत रत्नमाला

अज्ञानियों पर ज्ञानियों का रोष नहीं होता

ण मुणंति धम्मतत्तं, सत्थं परमत्थगुणं हियं-अहियं।
बालाण ताण उवरिं, कह रोसो मुणिय धम्माणं॥117॥

भावार्थ - ज्ञानी जीव जानते हैं कि 'मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का स्वरूप जानते ही नहीं हैं' फिर वे ऐसे अज्ञानी जीवों पर रोष कैसे करें अर्थात् नहीं करते, मध्यस्थ ही रहते हैं ॥117॥

आत्म-वैरी की पर पे करुणा कैसे हो

अप्पा वि जाण वयरी, तेसिं कह होइ परजिये करुणा।
घोराण वंदियाणय, दिट्ठे ते ण य मुणेयव्वं॥118॥

अर्थ - जिन जीवों के अपना आत्मा ही वैरी है अर्थात् जो मिथ्यात्व और कषायों द्वारा अपना घात स्वयं ही करते हैं, उन्हें अन्य जीवों पर करुणा कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती। जो स्वयं घोर बंदी खाने में पड़ा हो, वह दूसरों को छुड़ाकर कैसे सुखी कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता ॥118॥

पापयुक्त व्यापारों के त्यागी धन्य हैं

जे रज्ज धणाईणं, कारणभूया हवंति वावारा।
ते वि हु अइ पावजुआ, धण्णा छंडंति भवभीया॥119॥

भावार्थ - कितने ही जीव धनादि का अधिक संचय करके अपने को बड़ा मानते हैं सो ऐसा जिनमत में तो नहीं है। जिनमत में तो धनादि के त्याग की ही महिमा है-ऐसा जानना ॥119॥

मोही-लोभी के ही व्यापार में पाप का सेवन

वीयादि सत्तरहिआ, धण-सयणादीहिं मोहिया लुद्धा।
सेवंति पावकम्मं, वावारे उयर भरणट्ठा॥120॥

भावार्थ - जो जीव शक्तिहीन हैं एवं मोही हैं वे ही उदर भरने के लिए पापरूप व्यापारों में रचते-पचते हैं, जो शक्तिवान हैं, वे उनमें नहीं रचते ॥120॥

उत्सूत्रभाषी के पंडितपने को धिक्कार हो

तइयाहमाण अहमा, कारणरहिआ अणाण गव्वेण।
जे जंपंति उसूत्तं, तेसिं धिद्धित्थु पंडित्ते॥121॥

भावार्थ - जो जीव लौकिक प्रयोजन साधने के लिए पाप करते हैं, वे तो पापी ही हैं परंतु जो बिना प्रयोजन ही अपनी मान कषाय को पोषने के लिए पंडितपने के गर्व से जिनमत के विरुद्ध उपदेश करते हैं, वे महापापी हैं क्योंकि कषाय के वशीभूत होकर जिनमत से यदि एक अक्षर भी अन्यथा कहे तो वह अनंत संसारी होता है—ऐसा कहा गया है ॥121॥

उत्सूत्रभाषी का भयानक संसार वन में भ्रमण

जं वीरजिणस्स जिओ, मरीइ उस्सूत्त लेस-देसणओ।
सायर कोडाकोडिं, हिंडिउ अइ भीम भवरण्णे॥122॥
तो जइ इमं पि वयणं, वारं वारं सुणंति समयम्मि।
दोसेण अवगणित्ता, उस्सुत्तवयाइं सेवंति॥123॥
ताणं कह जिणधम्मं, कह णाणं कह महाण वेरग्गं।
कूडाभिमाण पंडिय, णडिआ वूडंति णरयम्मि॥124॥

भावार्थ - जो जीव जिनाज्ञा को भंग करके अपनी विद्वत्ता द्वारा अन्यथा उपदेश करते हैं, वे जिनधर्मी नहीं हैं। वे तो मिथ्यात्वादि के द्वारा नरक-निगोदादि नीचे गति ही के पात्र हैं ॥122-124॥

तीव्र मिथ्यात्वी को हितोपदेश भी महा दोषरूप है

मा मा जंपह बहुअं, जे बद्धा चिक्कणेहिं कम्मेहिं।
सव्वेसिं तेसिं जइ, हिय उवएसो महादोसो॥125॥

भावार्थ - जिन जीवों के मिथ्यात्व का तीव्र उदय है, उन्हें बारंबार उपदेश देने से भी किसी साध्य की सिद्धि नहीं है क्योंकि वे तो उल्टे विपरीत ही परिणमते हैं। ऐसा वस्तु का स्वरूप जानकर विद्वानों को मध्यस्थ ही रहना योग्य है ॥125॥

अशुद्ध हृदयी को उपदेश देना वृथा है

हिययम्मि जे कुसुद्धा, ते किं बुज्झंति धम्म-वयणेहिं।
ता ताण कए गुणिणो, णिरत्थयं दमहि अप्पाणं॥126॥

भावार्थ - विपरीत जीवों को उपदेश देने में कुछ भी सार नहीं है। अत: उनके प्रति मध्यस्थ रहना ही उचित है-ऐसा जानना ॥126।

जिनधर्म के श्रद्धान से तीव्र दु:खो का नाश

दूरे करणं दूरं, पि साहणं तह पभावणा दूरे।
जिणधम्म सद्दहाणं, तिव्वा दुक्खई णिट्ठवई॥127॥

भावार्थ - व्रतादि का अनुष्ठानादि तो दूर ही रहो, एक जिनधर्म के दृढ़ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व के ही होने से नरकादि दु:खों का अभाव हो जाता है, इस कारण जिनधर्म धन्य है ॥127॥

आगे जिनसे धर्म की प्राप्ति होती है, ऐसे श्रीगुरु के संगम की भावना भाते हैं:-

सुगुरु से धर्म श्रवण की भावना

कइया होही दिवसो, जइया सुगुरूण पायमूलम्मि।
उस्सूत्त लेस विसलव, रहिऊण सुणेसु जिणधम्मं॥128॥

अर्थ - अहो! वह मंगल दिवस कब आयेगा कि जब मैं सुगुरु के पादमूल में उनके चरणों के समीप बैठकर जिनधर्म को सुनूँगा! कैसा होकर सुनूँगा? उत्सूत्र के लेश अर्थात् अंशरूपी विषकण से रहित होकर सुनूँगा ॥128॥

तत्त्वज्ञ को अदृष्ट भी ज्ञानी गुरु प्रिय हैं

दिट्ठा वि केवि गुरुणो, हियए ण रमंति मुणिय तत्ताणं।
केवि पुण अदिट्ठा, चिय रमंति जिणवल्लहो जेम॥129॥

अर्थ - कितने ही गुरु तो ऐसे हैं जो देखे जाते हुए भी तत्त्वज्ञानियों के हृदय में नहीं रमते अर्थात् वे लोक में तो गुरु कहलाते हैं परंतु उनमें गुरुपने के गुण नहीं होते, ऐसे गुरु ज्ञानी पुरुषों के हृदय में नहीं रुचते और कई गुरु अदृष्ट हैं—देखने में नहीं आते हैं तो भी तत्त्वज्ञानियों के हृदय में रमते हैं, ज्ञानी उनका परोक्ष स्मरण करते हैं। जैसे जिन हैं, वल्लभ अर्थात् इष्ट जिनके ऐसे गणधरादि आज प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी ज्ञानियों के हृदय में रमते हैं ॥129॥

आगे कोई कहता है कि 'हम तो कुगुरुओं को ही सुगुरु के समान पूजेंगे, गुणों की परीक्षा से हमें क्या प्रयोजन है!' उसका निषेध करते हैं :-

कुगुरु की सुगुरु से तुलना मत करो

अइया अइ पाविट्ठा, सुद्धगुरु, जिणवरिंद तुल्लंति।
जो इह एवं मण्णइ, सो विमुहो सुद्ध धम्मस्स॥130॥

भावार्थ - जिसके सुगुरु और कुगुरु में विशेषता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है ॥130॥

साभार : उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला

समाचार-सार

तीर्थधाम मङ्गलायतन में तत्त्व प्रभावना

तीर्थधाम मङ्गलायतन : बालब्रह्मचारी कल्पनाबेन का प्रवास वर्तमान में तीर्थधाम मङ्गलायतन में चल रहा है। उनके द्वारा ग्रंथाधिराज समयसार की कक्षा एवं साप्ताहिक शंका-समाधान और संस्कार कक्षाओं का लाभ आदिनाथ विद्यानिकेतन के मङ्गलार्थी छात्रों को मिल रहा है। इसी शृंखला में 15 मार्च से 21 मार्च तक डॉ. राकेश जैन, नागपुर का लाभ अष्टपाहुड़ के चारित्रपाहुड़ पर विद्यानिकेतन एवं अन्य समागत अतिथियों ने लाभ लिया। इसी अवसर पर होली पर तीर्थधाम मङ्गलायतन में रत्नत्रय विधान का आयोजन मङ्गलार्थी छात्रों के द्वारा किया गया। जिसमें सुबह का व्याख्यान डॉ. राकेशजी जैन एवं दोपहर का व्याख्यान पण्डित सचिनजी द्वारा किया गया। जिसका लाभ उपस्थित 100 से अधिक साधर्मियों ने लिया।

दीक्षान्त समारोह सम्पन्न

तीर्थधाम मङ्गलायतन : श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन की कक्षा 12वीं के छात्रों का दीक्षान्त समारोह 19 मार्च 2019 को मनाया गया। नागपुर से पधारे डॉ. राकेश जैन की अध्यक्षता में यह कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

इस कार्यक्रम में पण्डित अशोक लुहाड़िया, पण्डित सचिन जैन, पण्डित सुधीर शास्त्री, डॉ. सचिन्द्र जैन, डॉ. स्वर्णलता जैन, श्रीमती बीना लुहाड़िया, श्रीमती अर्चना जैन, श्रीमती अपर्णा जैन, श्रीमती आलोकवर्धिनी जैन एवं श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के समस्त मङ्गलार्थी छात्र उपस्थित थे। सभी विद्वत्वर्ग ने उद्बोधन में मङ्गलार्थी छात्रों को उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामना एवं तत्त्वज्ञान से जुड़े रहने की मंगल प्रेरणा प्रदान की।

कार्यक्रम का संचालन ग्यारहवीं कक्षा के मङ्गलार्थी प्रणव जैन एवं सूर्यांश ठगन द्वारा किया गया। मङ्गलाचरण मङ्गलार्थी आगम जैन ने किया एवं सभी बारहवी कक्षा के मङ्गलार्थी छात्रों का स्वागत किया गया। सभी मङ्गलार्थी छात्रों ने अपने उद्बोधन में स्वयं की कमियों एवं अच्छाईयों को बताया तथा अपने अनुज भाईयों को तत्त्वज्ञान से जुड़ने की प्रेरणा दी।

सभी ने समय-समय पर मङ्गलायतन में आने की बात कही एवं पूज्य गुरुदेवश्री की सी.डी. प्रवचन को अपने जीवन का अंग बनाने का संकल्प लिया।

भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

सत्रहवाँ प्रवेश साक्षात्कार शिविर सत्र 2019-20

(बुधवार, 03 अप्रेल से रविवार, 07 अप्रेल 2019)

उद्घाटन समारोह की एक झलक

विस्तृत समाचार आगामी अंक में प्रकाशित किए जाएँगे।

प्रकाशन तिथि - 14 अप्रेल 2019 पोस्ट प्रेषण तिथि - 16-18 अप्रेल 2019
Regn. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

वस्त्र-पात्रादि त्रिकाल में भी संयम के हेतु नहीं

मुनिदशा ऐसी होती है कि 'मात्र देह ते संयम हेतु होय जो।' शरीर को छोड़ा नहीं जाता किन्तु अन्य सब छूटने योग्य है; इसलिए नग्न शरीर होने पर भी, उसे संयम का हेतु मानकर आहार देने का राग आता है किन्तु किसी मुनि को वस्त्र-पात्रादि लेने या रखने का राग कभी नहीं आता क्योंकि वे तो गृहस्थदशा सम्बन्धी राग के निमित्त हैं; इसलिए मुनिदशा में अर्थात् साधुपद में वस्त्र-पात्रादि कभी तीन काल में संयम के हेतु नहीं होते।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

पं. सं. : DELBIL/2001/4685
स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा **मङ्गलायतन** मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : डॉ. सचिन्द्र शास्त्री, मङ्गलायतन।

मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, हरिनगर, आगरारोड, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)
Shri Adinath-Kundkund-Kahan Digamber Jain Trust
Harinagar, Agra Road, Aligarh-202001 (U.P.)
Ph. : 9997996346, 2410010/10; Fax : 2410019/22
info@mangalayatan.com www.mangalayatan.com